कानूनी पेचीदगियों में उलझते आदिवासी सामुदायिक वन अधिकार एक आंकलन

Research Scholar: ROHIT
Email: rohitv2405@gmail.com
Department: Arts and Humanities

Supervisor - Dr. Anand Mohan

Email:

Glocal University
(Mirzapur pole, Saharanpur, U.P. - 247121, India)

भारतीय संविधान बड़े विस्तृत स्तर पर आदिवासी मूल्यो व सदंर्भो का गठन न सिर्फ अपनी कानूनी प्रणाली में करता है। अपितु इसके लिये उसने मौलिक अधिकारों के अनुच्छेद 14, 21, 29, जो क्रमशः कानून के समक्ष समानता, जीवन के अधिकार और अल्पसंख्यको के हितो के सरंक्षण से संबंधित है, सहित मौलिक कर्तव्यो व नीति निर्देशक सिद्धांतो {अनुच्छेद 48(ए)} में भी स्पष्ट रूप से आदिवासियों को अनुसूचित जनजातियो की श्रेणी (*Schedule Caste*) में शमिल करते हुये सरंक्षण प्रदान किया गया है। जिसमें संविधान की अनुसूची पाँच व छः आदिवासी अधिकारों के सदर्भ में अपना एक अलग ही अस्तित्व रखती है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुये आदिवासियों की सार्वजनिक क्षेत्र तक पहँच को सुनिश्चित करने के लिये सरकारी पदो व राजनीतिक प्रतिनिधित्व और भागीदारी के संदर्भ में इन्हें आरंक्षण देने का प्रावधान भी किया गया हैं। लेकिन फ़िर भी सदैव आदिवासियों के अधिकारों की मान्यता का विषय इस संदर्भ में विवादास्पद रहा हैं। तो संविधान में आदिवासियों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक समानताए दी गई है परन्तु क्या वास्तव में आदिवासी इन सबको प्राप्त कर पाये हैं? क्या अब भी विकास व परमाणु उर्जा के दौर में इनकी सांस्कृतिक मान्यताए व मूल्य सरकार बचा पाने में समर्थ रही हैं? इस संदर्भ में विद्युत जोशी अपनी कृति "*Tribal Situation In India: Issues In Development With Special Refrence To Western India*" में मुख्य तीन कारणो को महत्वपूर्ण मानते हैं। अलगाववाद, सम्मिलन (*Assimilation*) और अनुकूलन (*Integration*) जवाहरलाल नेहरू ने इस तीन कारणो में से अनुकूलन को अपनाते हुए आदिवासियों के उत्थान व उनकी सास्ंकृतिक व सामाजिक निजता को बरकरार रखने के लिये 'पंचशील' का सिद्धांत अपनाया।[1]

पंचशील के इस सिद्धांत को 'वेरियर एल्विन' द्वारा लिखित पुस्तक 'ए फ़िलोसाफ़ी ऑफ़ नफ़ा' की भूमिका में नेहरू जी द्वारा बानाये गये थे। जिसका पहला सिद्धांत कहता है कि यह लोग (आदिवासी) अपनी योग्यता व बुद्धिमत्ता के अनुरूप अपनी परम्पराओं और सांस्कृतिक सभ्यता के सहारे अपना विकास करेगे जिसके सदंर्भ में इन पर किसी भी प्रकार का दबाव नही डाला जायेगा। दूसरे सिद्धांत में भूमि और वन संबंधी जनजातीय लोगो के अधिकारों का सम्मान किया जायेगा।

[1] Joshi, V. (1998). *Tribal Situation In India: Issues In Development With Special Reference to Western India*. Delhi, pp. 13, Rawat publication.

तीसरे सिद्धांत के अनुसार प्रशासन और विकास के कार्या को अंजाम देने के लिये जनजातिय समुदाय स्वयं के समूह का निर्माण करेगे और उन्हें प्रशिक्षित करेगे। चौथे सिद्धांत के अनुसार इन जनजातिय क्षेत्रों को बहुसंख्यक कार्यक्रमों के जरिये अति-प्रशासित होने से बचाना है। अंतिम पाँचवे सिद्धांन्त में उनके सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानो के विरोध की बजाय उनके अनुरूप और उनके माध्यम से उनका विकास करना हैं। अतः इन पाँचो सिद्धांतो में पहले सिद्धांन्त में ही कहा गया है कि यह लोग (आदिवासी) स्वयं अपनी योग्यता व बुद्धिमत्ता के अनुसार अपनी समस्याओ व विकास को बहाल करेगें व अपने संसाधनो पर नियंत्रण रखेगें। लेकिन यदि हम शोध में विश्लेषित उपरोक्त विभिन्न नीतियों पर एक नज़र दौडाये तो हमे पता चलेगा कि इनमें से एक भी सिद्धांत आज तक फलीभूत नही हो पाया हैं। जिसका कारण नीतियों का लिखित रूप में ही कागजो में सिमट कर रह जाना हैं।[2] ऐसे में पेसा जैसे अधिनियम भी मात्र सरकार का मीठा लडडू ही साबित हो कर रह जाते हैं।

इस तरह सरकार की इस आधी-अधूरी रणनीति के विषय में गोविन्द चन्द्रा का मानना हैं कि आदिवासियो के संदर्भ में अपनाई गई नीतियों को, नीतियों के निर्माण के पश्चात् और तवज्जो की जरूरत होती है। जिसे मानव विकास का एक और 'अन्य विकास' (*Another Development*)[3] कहते हैं जिसे कभी भी भारतीय कानूनी व्यवस्था ने आदिवासियो के संदर्भ में नही अपनाया।[4] उसके विपरीत इन आधी-अधूरी नीतियों को राज्य नौकरशाहो के अधिन कर उन्हें उन्ही के जरिये लागू करने पर जोर देता है उदाहरण पेसा अधिनियम 1996, जिसमे पंचायतो व ग्राम सभाओ को सामुदायिक वन संसाधन के विषय में निर्णय लेने के अधिकार तो दे दिये गये परन्तु भूमि अधिग्रहण जेसे बड़े मुददो के सदर्भ में अंतिम निर्णय राज्य द्वारा लेने पर जोर दिया गया। जो स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक शोषण की उत्तर-औपनिवेशिक दौर में निरंतरता का उदाहरण हैं। इसे सुंदर 'कानूनी बहुलवाद'(*Legal Pluralism*[5]) कहती है जो नीतियों के संदर्भ में राज्य गैर राज्य संदर्भ में व्यवस्था को समान रूप से छिपाता हैं। यहाँ सदंर्भ नीचले स्तर पर लागू किये जाने वाले कानूनो व नीतियों से है जो प्रत्येक स्तर पर बदलती रहती है जिसका कारण स्थानीय स्तर पर सरकार का अलग स्वरूप व राज्य स्तर पर अलग और केन्द्रिय स्तर पर अलग स्वरूप होना है जो अपने हितो के अनुसार कानूनो की परिभाषा को बदलता रहता हैं। इस संदर्भ में न्यायपालिका की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं जिसे संविधान की व्याख्या करने की

---

2 Mahapatra, L. K. (1994). *Tribal Development In India: Myth and Reality* New Delhi, pp. 1-2, Vikas Publishing House.

3 Heredia, R. C. (1995). "Tribal Education For Development: Need For A Liberative Pedagogy For Social Transformation" *Economic and Political Weekly. 22 April, pp. 891-97.*

4 Govind, C. R. and Dean, D. (2006). *Tribal Development In India: The Contemporary Debate',* New Delhi /Thousand Oaks, London, pp. 20, Sage Publications.

5 Sundar, N. (2005). "Laws Policies and Practices In Jharkhand*" Economic and Political Weekly*, Vol.40, No.41., pp. 4459-4462.

संवैधानिक शक्ति प्रदान की गई हैं क्योकि उत्तर-औपनिवेशिक दौर में जैसे -जैसे वन विभाग और पर्यावरण विभाग ने नीतियों का निर्माण किया वैस-वैसे न्यायपालिका ने उन पर वैधता की मोहर लगाकर, कानून को न्यायिक जामा पहनाने का काम किया।[6] यद्यपि यह नीतियों सामाजिक रूप से सन्तुलित न होकर केवल उनके हितो के अनुसार बनाई जाती रही है जो इन प्राकृति स्त्रेतो व संसाधनों पर कानूनी व राज्य के सार्वजनिक ऐजेन्ट होने का दावा करते आये हैं।[7] क्योकि भारत में कानून किसी भी उदारवादी सरकार की तरह वर्चस्व और विरोध के तरीको दोनो को साथ लेकर चलते हैं। इसलिये उत्तर-औपनिवेशिक दौर के राज्य ने भी इसी उदारवादी हित को ध्यान में रखते हुये वन नीतियों का निर्माण किया।

मसलन इस विषय में सिंह और पाठक कहते है कि राज्य अपने वर्चस्व को साबित करने के लिये ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा गढ़ी गई 'विधि का शासन' के सिद्धांत का उपयोग सवैधानिक रूप से किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस तरह स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने लोकतांत्रिक व्यवस्था में साम्राज्यवादी वर्चस्व नीति को भी अपने में समाहित कर लिया। इन्हीं कानूनी व्यवस्था के आधार पर पूर्व सरकार द्वारा भूमि तथा प्राकृतिक संसाधनों पर आदिवासियों को सामुदायिक अधिकारों के संदर्भ में न्याय देने की बात करती आई हैं। लेकिन विड़म्बना सदैव यह रही है कि जो व्यवस्था खुद में अव्यवस्थित हैं वही कानून और व्यवस्था बनाने की बात कर रही हैं।

इस तरह स्वतंत्रता के बाद की सरकार द्वारा ब्रिटिश शोषण पर आधारित कानून के शासन की अवधारणा को संविधान में शामिल तो कर लिया गया लेकिन कानून की परिभाषा को न तो कभी स्पष्ट किया गया है और न ही निश्चित ही किया गया हैं। इस संदर्भ में यदि हम 'सम्पत्ति के अधिकार' को देखें तो यह औपनिवेशिक दौर से ही समस्या ग्रस्त या कहें कि सामुदायिक अधिकारों का प्रांरम्भिक बिन्दु रहे हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठना लाजमी है कि सम्पत्ति अधिकारों की अवधारणा ने किस प्रकार आदिवासियों को प्रभावित किया? क्योकि कई विचारको का इस विषय में मानना है कि अधिकारों पर 'सहमति' (*Consent*) बाकी सभी अधिकारों व मान्यताओं को दोयम दर्जे पर ले आती है जैसा कि 1976 में सम्पत्ति के अधिकारों के विषय में किया गया। जिसमे संविधान के मुल अधिकारों की श्रेणी में समाहित सम्पत्ति के अधिकार को 44वे संविधान संशोधान द्वारा यह कहकर कि यह अधिकार सामन्तवादी व्यवस्था को बढ़ावा दे रहा है। इसलिये इसके

---

6 Ibid.

7 Sundar, N. (2009). *Legal Grounds: Natural Resources, Identity and the law In Jharkhand*-] Delhi University, Oxford University Press.

उन्मूलन के लिये सम्पत्ति के अधिकार को संविधान के मूल सिद्धान्तो की श्रेणी से हटा कर अनुच्छेद 300ए के अन्तर्गत् कानूनी अधिकारों की श्रेणी में शामिल कर दिया गया (*Kolavalli: 1995*)[8]

इस विषय में 'बार्ज़ेल' कहते है कि किसी सहमति का कुल मूल्य मूल्यांकन एक 'मालिकाना हकदारी' की मांग करता है जो कि अन्य उत्पीड़न से ज्यादा प्रभावकारी और गैर मुआवजी उत्पीड़न होता हैं (*Barzel: 1989*)[9] जैसा कि खानाबदोश, शिकारी व घुमंतु आदिवासियोंं के साथ हुआ जिन्हे जमीन पर पट्टा देने की रणनीति के चलते अपनी परम्परागत जीविका व संस्कृति से वंचित होना पड़ा। इस तरह सम्पत्ति अधिकारों की नीति ने न केवल उपयुक्त आदिवासी समुदायों या लोगो को प्रभावित किया अपितु उन परिस्थितियों को भी प्रभावित किया जिन पारिस्थितियों में इस पर सहमति जताई गई थी (*Bailey: 1992*)[10] इस प्रकार वन भूमि को सार्वजनिक भूमि से निजि भूमि में परिवर्तित करने के चलते तीन मुख्य स्तरो पर प्रकृतिक संसाधनो के सदर्भ में आदिवासियों के सामुदायिक अधिकारों पर प्रभाव पड़ा। पहला वनों से आदिवासियों का बहिष्करण, जो आधुनिक राष्ट्र राज्य ने तकनीकी और वैज्ञानिक वानिकी के जरिये किया। दूसरा प्रभाव सामुदायिक सम्पत्ति के रूप में पड़ने वाला बाहय प्रभाव था। अर्थात् सम्पत्ति के सिद्धान्त को आधुनिक राष्ट्र राज्य कानूनी रूप से आदिवाासियों पर इतना हावी कर चुका था कि वनों में जिस सामुदायिकता का इतना गहरा अस्तित्व था वह अब व्यक्तिगत सम्पत्ति में बदल चुकी थी जिसे मूर्त रूप पट्टा व्यवस्था ने भली भाँति दिया व अंतिम प्रभाव उपयोगकर्ताओ तक पहुँचने वाला कार्य सम्पादन के रूप में पड़ा। इस प्रकार इन तीनो ने पूर्ण रूप से आदिवासियों को उनकी परम्परागत धरोहर से वंचित कर दिया।[11]

न्यायपालिका की भूमिका

संसद को संविधान के निर्माण के समय से ही कानून बनाने के साथ-साथ कानून की व्याख्या करने तथा संविधान में संशोधन करने की पूर्ण स्वायत्ता दी गई हैं। स्वतंत्रता पश्चात् क्योकि काँग्रेस और न्यायपालिका का एक बड़ा ही मजबूत गठबंधन रहा जिसके अन्तर्गत् न्यायपालिका न्याय व कानूनो की व्याख्या के दौरान सदैव दोहरा रूप लिये रहती है जिसका उदाहरण न्यायिक पुर्ननिरक्षण रहा है, जिसमे न्यायपालिका अपने ही निर्णयो को लागू करने के पश्चात् स्वयं ही उनकी संवैधानिक

---

8 Kolavalli, S. (1995). "Joint Forest Management: Superior Property Rights?" *Economic and Political Weekly,* Vol. 30, No. 30 (Jul. 29)., accessed date 01. 10. 2014, 01:03.

9 Yoram, B. (1989). *Economic Analysis of Property Rights.* Cambridge. pp. 1988, Cambridge University Press.

10 Bailey, M. J. (1992). *"*Approximate Optimality of Aboriginal Property Rights*"* *Journal of Law and Economics,* vol. XXXV, pp. 183-98.

11 Ibid.

वैधता को चुनौती देती हैं। अपनी इस दोहरी नीति का परिचय दूसरी बार न्यायपालिका ने 'जनहित याचिका' (*Public Intrest Litigation*) के द्वारा दिया।

जनहित याचिका के जरिये उत्तर-आपातकाल के दौरान उच्चतम न्यायलय ने अपने द्वार उन जन साधारण के लिये खोल दिये जिन्हे यह आशंका हो कि उनके मौलिक अधिकारों का हनन् हो रहा हैं। अतरू व्यक्ति ऐसे में अपनी शिकायत को जनहित याचिका के जरिये न्यायालय तक ले जा सकता हैं। परन्तु इसी के साथ इसके अन्तर्गत् यह प्रावधान भी है कि राज्य न्यायालय के नियम में फ़ेर बदल कर सकता है जैसा कि उच्चतम न्यायलय ने 'मेनका गांधी बनाम राज्य संघ' के मामले में किया था।[12] कुछ पहल आदिवासी वन अधिकारों के संदर्भ में भी की गई जैसे 1987 गुजरात के उदयपुर तालुके के आनंद निकेतन आश्रम ने जनहित याचिका के जनिये वनों व वन उत्पादो से आदिवासी समुदायों की बेदखली के मुद्दे को उठाया तत्पश्चात् एक और अन्य मामले 'आदिवासी सेवा आश्रम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' मामले में न्यायपालिका ने अपनी दखल दी। जिसके बाद न्यायलय ने आरंक्षित वनों में सामुदायिक वन अधिकारों की बहाली की गई। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि न्यायपालिका के इतने सकारात्मक कार्यो के बावजुद आदिवासी क्षेत्रों में न तो शांति स्थापित हुई और न ही सुशासन जिसके कारण साठ के दशक से अब तक आदिवासी वन अधिकारों और न्यायिक नीतियों के मध्य सदैव छत्तीस का आंकड़ा रहा हैं। ऐसे में कई मामलो में न्यायपालिका द्वारा कई बार आदिवासियों के हित में निर्णय लिये गये जिसका उदाहरण 1997 का आन्ध्र प्रदेश का 'समता बनाम राज्य सरकार' का मामला है जो आन्ध्र प्रदेश सरकार और एक प्राईवेट कम्पनी के बीच लड़ा गया था।[13]

उपरोक्त मामलो से पता चलता है कि न्यायलय ने आदिवासियों के हित में निर्णय तो दिए है परन्तु उनसे आदिवासियों के जीवन में कोई खासा परिवर्तन नही आया। इस संदर्भ में यदि हम 1967 में लाई गई हरी सिंह कमिटी व 2001-02 में आई दिलीप सिंह भूरिया कमीटी की रिपोर्ट देखें तो हमें पता चलता है कि न्यायपालिका कितने लोगो तक न्याय या न्यायालय को पहुँचा पाई हैं। जहाँ हरी सिंह कमीटी में सत्तर के दशक में यह विवरण दिया गया कि भारतीय भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 60 प्रतिशत ऐसा भाग है जिनमे आदिवासी जंगलो में रहते है और 30 प्रतिशत ऐसा जिनमे लोग इन जंगलो के आस पास रहते हैं। आगे इस कमीटी में यह कहा गया कि क्योकि ज्यादातर आदिवासी जनसख्या वनों पर निर्भर है इसलिये इन्हें इन्ही वनों में वन उत्पादो से रोजगार कमाने

---

12 Basu, D. D. (2011*). Introduction to the Constitution of India.* Nagpur, pp. 191, LexisNexis.

13 lerk cuke jkT; ljdkj ekeys esa vkSj gky gh esa vk;k mPpre U;k;y; ds vksfM+'kk ds fu;efxjh ekeyk nksuks gh fu.kZ;ksa esa lekurk ;g jgh fd mPpre U;k;y; us xzke lHkk dks lkeqnkf;d ekeyks ds lanHkZ esa vafre fu.kZ; ysus dk iQSlyk xzke lHkk dks fn;k rFkk bl ckr dh fuxjkuh Hkh j[kh xbZ fd lkeqnkf;d ou Hkwfe dk fdlh vU; dke esa bLrseky u gksA vf/d fooj.k ds fy;s ns[ksa *;kstuk]^tutkfr ,oa oafpr oxZ*] o"kZ 58] vad 1] tuojh 2014] i`"B la[;k 18&19-*

की अनुमति दी जाये जिसमे राज्य का प्रयास राज्यस्व एकत्र न होकर आदिवासी समुदायों के विकास में सहायता करने का होना चाहिये (*Singh: 1967*)A[14] वहीं भूरिया सिंह कमीटी में पुनरू सामुदायिक अधिकारों की मांग को दोहराते हुये यह कहा कि भले ही न्यायपालिका ने वनों के नियंत्रण को आदिवासियों से अपने हाथो में हस्तांतरित कर लिया हो तथा वनों में उनकी पूर्व अवस्था की बहाली का वादा भी कर दिया हो लेकिन फ़िर भी एक बड़ा हिस्सा अपनी परम्परागत कृषि व धरोहर से वंचित हुआ है। इसके कारण आदिवासियों की स्थिति में गिरावट आई हैं। उदाहरण जिन आदिवासियों का आंकडा 1961 के में 68-18 प्रतिशत था वह 1991 में गिरकर 54-50 प्रतिशत ही रह गया। अर्थात् आदिवासियों की जीविका में गिरावट पिछले 30 वर्षो में 13-68 प्रतिशत तक बड़ी साथ ही इस कमीशन में यह भी कहा गया कि अपनी जीविका में इतनी तेजी से आई गिरावट के चलते यह आदिवासी भूमिहिनता और गरीबी के शिकार हुए है जिसके कारण यह रोजगार की तलाश में अपने मूल स्थानो से पलायन कर रहे हैं(*GOI: 115,119,121*)A[15]

इस तरह स्वेच्छाचारी राज्य ने कानून को हुक्म की शक्ल देकर भूमि अधिनियमों के नाम पर इन आदिवासी समुदायों को ठगा है तथा 'निवास स्थान प्रमाण पत्र' (*Domicile*) की राजनीति के द्वारा सम्पत्ति अधिकारों के संदर्भ में कानूनो को और जटिल बना कर दोहरी राजनीति खेली जिसका संविधान के किसी भी भाग या संशोधन में कोई भी न तो वर्णन था और न ही न्यायिक पुर्नारिक्षण द्वारा इस संदर्भ में कोई उचित मार्ग ही निर्धारित किया गया।[16]

उत्तर-औपनिवेशिक दौर पर एक नज़र

दरअसल उत्तर-औपनिवेशिक दौर में राष्ट्र निर्माण की योजना में बड़े उद्योगो, खनन व व्यापार पर आधारित विकास मॉडल को भारत पर थोपा गया। इस मॉडल के द्वारा वन संसाधनों का जमकर दोहन किया गया। इस सब में बड़े बांधो की रणनीति ने महत्वपूर्ण रूप से सामुदायिक अधिकार या दावेदारी की नींव रखी। जिसकी शुरूआत चिपको अंदोलत से आरंभ हो कर नर्मदा बचाओ आन्दोलन में उभरी। इन आंदोलनों का उभार वास्तव में वनों से स्थानीय लगाव के कारण हुआ क्योकि बड़े बांधो की इस राजनीति का मार्ग आदिवासी वन क्षेत्रों से हो कर गुजरता है जो (आदिवासी क्षेत्र) आर्थिक दृष्टि से यूँ तो समाज के सबसे पिछड़े व अविकसित क्षेत्रों में ही संकुचित रहते है परन्तु वहीं संसाधनों और कच्चे माल की दृष्टि से इनका नियंत्रण देश के सबसे संपन्न हिस्से पर होता हैं। जिसके कारण शहरी व औद्योगिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये बांध परियोजनाओ को इन्ही क्षेत्रों में लगाया जाता है जैसा की 'सरदार सरोवर बांध परियोजना' में किया गया। यह परियोजना अब तक की सबसे बड़ी परियोजनाओ में से है जिसे लगभग 6, 4060 मिलियन रूपये की लागत से 1986-87 में लाया गया। इस परियोजना को लगाने से पहले यह वादा

---

14 Singh, H. (1967). *Report Of the Committee of India on Tribal Economy In Forest Area.* Government of India, New Delhi, pp. 107- 109.

15 Government of India. 115, 119, 121.

16 Ibid, pp. 156.

किया गया कि इस परियोजना का सबसे पहला लाभ आदिवासियों को ही दिया जायेगा। परन्तु हुआ कुछ यूँ कि आदिवासी ही इस योजना के सबसे पहले शिकार हुये जिसके कारण लाखो लोग अपने मूल स्थानों से पलायन करने को मजबूर हो गये। जो इन आदिवासियों की एक और अन्य बड़ी समस्या हैं।[17] अत: औद्योगिकरण की प्रक्रिया में हमें यहां यह बात समझना आवश्यक है कि विकास किसी भी देश निर्माण की वो महत्वपूर्ण जरूरत है जिसे किसी भी किमत पर नकारा नही जा सकता। लेकिन इसी विकास में समाहित औद्योगिकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिसमें वह लोग ही शिकार होते है जो न तो इस विकास के पहले लाभभोगी होते है और न ही भविष्य में इन्हें इस विकास का कोई लाभ ही मिलने की निश्चितता होती है। फ़िर भी यही इसके पहले शिकार बनते हैं। इसका एक कारण सम्पत्ति की दावेदारी के साथ मुआवजे की लाजबाव राजनीति होती है जो राज्य के शोषण को ढंके की चोट पर न्यायपूर्ण साबित करके उसे वैधता प्रदान करती हैं। परन्तु वहीं इसके दूसरे पक्ष को देखा जाये तो पता चलता है कि मुआवजा सिद्धान्त कागज़ी व लिखित कानूनो के घोड़े पर दौड़ता वह धावक है जिसे कानूनी व कागज़ी भाषा ही समझ आती हैं। अर्थात मुआवजा वह पेशगी होती है जो राज्य द्वारा सार्वजनिक हानि की दृष्टि से उन लोगो को दी जाती है जो किसी कारण वर्ष हानि में रहे हैं।

ठीक ऐसा ही आदिवासियों के साथ भूमि अधिग्रहण की नीतियों के द्वारा किया गया। परन्तु ऐसे में हानि में वह लोग रहे जो भूमिहिन और खानाबदोश समुदायों से थे जिन्हें अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर को भी गवाना पड़ा। छत्रपति सिंह भारत के ऐसे नागरिको के अधिकारों को मुख्य दो नागरिको की श्रेणी में विभाजित करते हैं। पहली श्रेणी में वे उन लोगो को शामिल करते है जो 'टेनेंसी कानूनो' द्वारा शासित थे तथा जिन्होने किसी तरह से सरकार के दिये हुये निश्चित समय में जमीन पर अपना कब्जा साबित कर दिया। वहीं दूसरी श्रेणी में वह नागरिक थे जो 'वन कानूनो' द्वारा शासित थे। इस श्रेणी में वे लोग शामिल किये गये थे जो यह साबित करने में असफ़ल रहे कि उपयुक्त जगह पर वो या उनके पूर्वज रहा करते थे। बरहाल स्वतंत्र भारत में इस प्रकार वनों पर सामुदायिक वन अधिकारों व जल जंगल जमीन को लेकर काफी संघर्ष चले है जिसके इतिहास के विषय में 'रामचंद्र गुहा' ने अपने अध्ययनो में जिक्र भी किया है तथा पिछले चार दशको में हुये भारतीय आदिवासी आन्दोलन को गरीबो के पर्यावरणवाद की संज्ञा दी हैं। इस प्रकार उन्होने इसे पश्चिमी पर्यावरणवाद से अलग बताया हैं। गुहा के अनुसार जहाँ पश्चिमी पर्यावरणवाद, पर्यावरण चिंता के रूप में सामने आया। वहीं भारत में यह पूरी तरह से जीविका से जुड़ा हैं। अर्चना प्रसाद ने इस पर्यावरणवाद को भारतीय संदर्भ में 'ईको रोमैंटिसिसम' कहा हैं। इस तरह प्रसाद के अनुसार उत्तर-औपनिवेशिक दौर में विचारको के मत कुछ सीमित मद्दो तक ही सीमित रहे।

---

[17] Raj, P. A. (1990). *Facts: Surdar Sarovar Project*, Sardar Sarovar Narmada Nigam, Gandhinager and Pathak, M.T, (ed.). (1991). *Sardar Sarovar project t: A promise for plenty*, New Delhi, Oxford and IBH Publishing.

इस प्रकार इस अध्याय में दिये गये सम्पूर्ण विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक दौर और उत्तर-औपनिवेशिक दौर की वन नीतियों में कई मायनो में धारावाहिता देखी जा सकती है क्योकि दोनो ही स्तरो पर राज्य द्वारा नियंत्रण स्थापित करने का जो महत्वपूर्ण लक्ष्य रहा वह था। वन संसाधनों पर पूर्णतः मालिकाना हक स्थिापित करना। मसलन यदि हम औपनिवेशिक दौर की वन नीतियों को देखें तो उस में भी आरंभ से अंत तक वनों के संदर्भ में जो नीतियों बनाई गई वह वनों पर राज्य द्वारा नियंत्रण स्थापित करने की रही। इसी प्रकार उत्तर-औपनिवेशिक दौर की नीतियों भी रही जिनके द्वारा लगातार वनो पर नियंत्रण स्थापित किया गया जैसे '*The Forest Conservation Act* 1980' जिसने लगातार कानूनों के माध्यम से आदिवासी समुदायों को वनों के सरंक्षण व उपयोग से रोका तथा वृक्षो को आरंक्षित (*Reserved*) कर आदिवासियों द्वारा उनके उपयोग पर रोक लगा कर उन्हें केवल औद्योगिक इस्तेमाल हेतु ही सरंक्षित रखा। इसी प्रकार राष्ट्रीय हितो की आड़ में राज्य ने स्थानीय आवश्यकताओ की आहूति दी जैसा की राष्ट्रीय वन नीति 1952 में किया गया। जिसमे आदिवासी व स्थानीय समुदायों को वन अधिकारों से इसलिए बहिष्कृत किया गया क्योकि 1952 की वन नीति में गठित राष्ट्रीय हितो की श्रेणी में सरकार ने सरंचनागत् विकास को महत्वपूर्ण माना।

इस तरह परिभाषिक रूप से राष्ट्रीय हित को औद्योगिक हित में बदल दिया गया। फ़लतरू स्थानीय जनसंख्या पूर्ण रूप से वन प्रबंधन व वनों से जुड़ी अपनी आवश्यकताओ और मान्यताओ से बिल्कुल ही अलग कर दिये गये। अन्य समानता वनों के संदर्भ में अपनाए गये तकनीकी प्रयासो के वर्चस्व का रहा जिसमे वन प्रबंधको ने व्यवसायी (*Professionals*) लोगो और अ-व्यवसायी (*Non-Professionals*) समुदायों के मध्य एक स्पष्ट रेखा खींच दी (*Guha: 1994*)A[18] इस तरह वन संसाधनों को स्त्रेतो के रूप में इस्तेमाल करने के लिये वनों को पूर्णतरू स्त्रेत प्रबंधंन से अलग कर दिया गया व वनों के सरंक्षण के लिये योग्यता को महत्व देते हुये एक व्यवसायी वानिकी को बढ़ावा दिया गया। वनों का व्यवसायी रूप में दोहन का दौर तब चला जब वन विभाग जिसका निर्माण 1864 में औपनिवेशिक दौर में राजस्व एकत्रण की दृष्टि से किया गया था। इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद भी उसी के हाथो में वनों का नियंत्रण बदस्तुर बरकरार रखा गया। इसका कारण औद्योगिकरण के संदर्भ में स्वतंत्रता पश्चात् अपनाई गई दो विचारधाराओं को माना जा सकता है जिसका विवेचन उपर किया जा चुका हैं।

मसलन नेहरूवादी विचारधारा ने जहाँ भारत को विश्व से जोड़ा वहीं गाँधीवादी विचारधारा द्वारा आदिवासी समुदायों को राष्ट्रवाद से जोड़ा गया परन्तु यह राष्ट्रवाद अधूरा साबित हुआ जिसमे नुकसान में फ़िर आदिवासी समुदाय ही रहे। क्योकि स्वतंत्रता पश्चात् यह बात तो पूर्ण रूप से स्पष्ट थी कि भारत को यदि स्वंय को भविष्य में खड़ा करना और स्थाई बनाना है तो उसे औद्योगिक विकास को अपनाना ही होगा और नेहरूवादी विचारधारा के आधार पर ऐसा किया भी गया

[18] Ibid.

जिसका कारण भारत को काँग्रेस द्वारा पदसोपानिक व्यवस्था में बाटना रहा। इस वर्ग व्यवस्था में बुर्जूआ वर्ग काफ़ी हावी था जिसने आगे चल कर भारत में भारी उद्योगो की स्थापना की। यह बात ध्यान देने वाली है कि काँग्रेस द्वारा निर्मित और पोषित यह बुर्जूआ किसान वर्ग काँग्रेस की किसान राजनीति का एक शक्तिशाली वर्ग रहा है जिसने वनों के संदर्भ मे बनी तमाम नीतियों को प्रभावित भी किया है और समय-समय पर कानूनों को अपने अनुसार बदलने के लिये सत्तावादी दलो पर दबाव भी डाला हैं। फ़लतरू औपनिवेशिक दौर से चले आ रहे सरकारी सत्तावादी शक्ति को चुनौति देने के लिये स्थानीय आदिवासी समुदायों ने विरोध का बिगुल बजाया। आदिवासी विद्रोहो के विषय में 'जेम्स स्कॉट' (1976) अपनी कृति '*The Moral Economy of the Peasant: Rebelion and Subsistence in South-East Asia'* में कहा है कि वनों में राज्य नौकरशाहो द्वारा पराधिकार प्रवेश को वहाँ रह रहे आदिवासी समुदायों ने उनके निजि मूल्यो, मान्यताओं व सांस्कृतिक जीवन में पराधिकार प्रवेश समझा और इसलिये आदिवासियों ने राज्य नीतियों का विरोध किया। इसके पीछे का अन्य कारण उनका यह विश्वास भी था कि केवल आदिवासी समुदायों को ही वनों में रहने व वन उत्पादनों के उपभोग का अधिकार हैं (*Scott: 1976*)A[19]

आदिवासियो द्वारा किया गया यह विद्रोह अलग-अलग स्थान पर अलग रूप में उभरे उदाहरण वनों में रहने वाले खानाबदोश व शिकारी समुदाय जिनके पास सरकार की नीतियों का विरोध करने का कोई संगठित तरीका या साधन नही था। परन्तु फिर भी इनके द्वारा लगातार राज्य द्वारा बनाई गई वन नीतियो का विरोध किया जाता रहा जिसे 'परिहार्य विद्रोह' (*Avoidance Protest*) कहा गया अर्थात् वह स्थानीय विद्रोह जो राज्य का प्रत्यक्ष सामना करने के तत्वो को कम व क्षीण करते हैं। उदाहरण छोटे मोटे अपराध आदि। इस बाजारोनमुख व्यवस्था को कई विचारको ने 'नैतिक अर्थव्यवस्था' (*Moral Economy*) कहा हैं। इस शब्द का इस्तेमाल ई- पी- थॉमसन द्वारा उचित और अनुचित आर्थिक गतिविधियों के संदर्भ में किया गया जो सामुदायिक सम्पदा पर आधारित परम्परागत और सामाजिक मूल्यो व कर्तव्यो का आंकलन करता हैं (*Thompson: 1975*)A[20]इस तथ्य को आगे बढ़ाते हुये 'सुंदर व जफ़ेरी' यह दावा करते हैं कि 1980 के आरंभिक समय में भारतीय सरकार द्वारा निचले स्तर के समूहो के लिये एक नई प्रकार की नैतिक अर्थव्यवस्था गढ़ी जा रही थी जिसके अन्तर्गत् स्थानीय लोगो के वनों पर परम्परागत दावो को संगठित तो किया जा रहा था परन्तु उन्हें किसी भी प्रकार से मान्यता नही दी जा रही थी। उलटे इसके विपरीत 'सुशासन' *(Good Governence)* की आड़ में वनों पर इनके अधिकारों को सीमित जरूर किया जा रहा था जिसके द्वारा बाजारवादी व तानाशाही विचारधारा को लगातार विभिन्न राष्ट्रीय नीतियों के जरिये स्थानीय समुहो पर थोपा जाता रहा (*Kothari: 1989, Wignaraja:*

---

19 Scott, J. C. (1976). *The Moral Economy of the Peasant: Rebellion and Subsistence In South Asia.* New Haven, pp. 176-178., Yale University Press.

20 Thompson, E. P. (1975). *Whigs and Hunters: The Origins of the Black Act.* New York Publications.

1993)A[21] यहाँ इस प्रकार की स्थिति के विषय में जेम्स सी- स्कॉट कहते है कि गरीब आदिवासी किसान व समुदाय का इस स्थिति पर ध्यान तब गया जब नई बाजार अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत् बुर्जूआ व बडें जीमदारों ने स्थानीय समुदायों पर अपने खुद के मूल्यो और कर्तव्यों को थोपा[22] जिसके अन्तर्गत् केवल बाजारवादी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये पँजीवादी समाज के अभिकर्ताओं ने वनों से जम कर प्रकृतिक संसाधनों को निकाला (*Thompson: 1993*)A[23] अत: आदिवासियो द्वारा राज्य वन नीतियों का विरोध करने का अन्य कारण नौकरशाहो द्वारा जबरन आदिवासियों के परम्परागत रोजगार को छोड़ने के लिये मजबूर करने तथा पलायन व निम्न स्तरीय जीवन जीने के लिये मजबूर करना और वन सरंक्षण के परम्परागत ज्ञान पर वैज्ञानिक ज्ञान को थोपना आदि रहा। इस तरह आदिवासियों का यह विद्रोह व्यक्तिगत से सामूहिक और फ़िर सामुहिक से हिंसक विद्रोह में उभरा जिसको आज कई लोग नक्सलवादी आन्दोलन भी कहते हैं (ळनींरू 1992)। बरहाल यहाँ अशय केवल स्थानीय आदिवासियोेंं द्वारा उभरे विद्रोह के कारणो का विवेचन करना ही हैं।

इस तरह वन दोहन के निम्नलिखित कारणो को पहचाना जा सकता है जिसके चलते शासन का स्वरूप तो औपनिवेश्कि सत्तावाद से लोकतांत्रिक सरकार के रूप में बदल गया परन्तु वनों पर नियंत्रण स्थापित करने का राज्य का तरीका औपनिवेशिक दौर के समान ही रहा हैं। पहला कारण स्त्रेतो को हासिल करना। दूसरा उस भूमि पर नियंत्रण स्थापित करना जिस भूमि पर यह मूल्यवान संसाधन स्थित हैं। तीसरा स्त्रेतो के मुख्य क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित कर वहाँ से सीधे संसाधनों को औद्योगिक घरानो तक पँहुचाना। चौथा उन सीमाओ को नियंत्रित करना जहाँ से इन स्त्रेतो को लाना मुश्किल हैं। पाँचवा अधिक मात्र में औद्योगिक वृक्षों की कृषि करना ताकि बाजार की मांग और पूर्ति के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके।

---

21 Kothari, R. (1988). *State against Democracy: In Search of Humance Governane.* Delhi, Ajanta and Wignaraja, P. (1993). *New Social Movements in the South-Empowering the People.* Delhi, Vistaar.

22 Scott, J. (1998)- *Seeing Like A State: How Certain Schemes to Improve the Human Condition Have Failed.* New Haven, and London, Yale University Press.

23 Thompson, E. P. (1993). *Customs In Common*- New York, The New Press-

Bibliography

- Bailey, M. J. (1992). *"*Approximate Optimality of Aboriginal Property Rights*" Journal of Law and Economics,* vol. XXXV, pp. 183-98.
- Basu, D. D. (2011*). Introduction to the Constitution of India.* Nagpur, pp. 191, LexisNexis.
- Govind, C. R. and Dean, D. (2006). *Tribal Development In India: The Contemporary Debate',* New Delhi /Thousand Oaks, London, pp. 20, Sage Publications.
- Heredia, R. C. (1995). "Tribal Education For Development: Need For A Liberative Pedagogy For Social Transformation" *Economic and Political Weekly. 22 April, pp. 891-97.*
- Joshi, V. (1998). *Tribal Situation In India: Issues In Development With Special Reference to Western India*. Delhi, pp. 13, Rawat publication.
- Kolavalli, S. (1995). "Joint Forest Management: Superior Property Rights?" *Economic and Political Weekly,* Vol. 30, No. 30 (Jul. 29)., accessed date 01. 10. 2014, 01:03.
- Mahapatra, L. K. (1994). *Tribal Development In India: Myth and Reality* New Delhi, pp. 1-2, Vikas Publishing House.

- Raj, P. A. (1990). *Facts: Surdar Sarovar Project*, Sardar Sarovar Narmada Nigam, Gandhinager and Pathak, M.T, (ed.). (1991). *Sardar Sarovar project t: A promise for plenty*, New Delhi, Oxford and IBH Publishing.
- Sundar, N. (2009). *Legal Grounds: Natural Resources, Identity and the law In Jharkhand*-] Delhi University, Oxford University Press.
- Singh, H. (1967). *Report Of the Committee of India on Tribal Economy In Forest Area.* Government of India, New Delhi, pp. 107- 109.
- Yoram, B. (1989). *Economic Analysis of Property Rights.* Cambridge. pp. 1988, Cambridge University Press.